AMOGHVARTA

ISSN : 2583-3189

बौद्ध दर्शन में चरित्र–निर्माणः एक विमर्श

ORIGINAL ARTICLE

Author
शशि कांत चौधरी
शोधार्थी
इतिहास विभाग
राधा गोविन्द विश्वविद्यालय
रामगढ़, झारखण्ड, भारत

शोध सार

नैतिकता के बिना चरित्र निर्माण की बातें पूर्ण रूप से खोखली हैं। नैतिक कार्य किये जायें इसके लिए न केवल ठीक साध्य का चुनाव आवश्यक है, बल्कि सही साधनों का अवलंबन भी उतना ही अपरिहार्य है। नैतिकता का अवलंबन मात्र किसी भी चरित्र निर्माण के लिए पर्याप्त नहीं है। नैतिकता स्वतः परिभाषित नहीं हो सकती। नैतिकता चरित्र–निर्माण की मुख्य सामग्री है, जिस प्रकार किसी भवन के लिए सीमेंट या ईंट। नैतिकता के बिना गुणों की बुनियाद नहीं हो सकती, चरित्र को कलेवर देना नितांत कल्पना मात्र हो जायेगी।

मुख्य शब्द

बौद्ध धर्म, चरित्र निर्माण, नैतिकता.

बौद्ध दर्शन की आचारमीमांसा एवं नीतिशास्त्र प्रबल है। प्रस्तुत पत्र में चरित्र निर्माण की प्रक्रिया, बाधाओं एवं समाधान की बौद्ध दर्शन के आलोक में विमर्श के रूप में उपस्थित किया गया है।

बुद्ध 'ऋते ज्ञानात्र मुक्तिः' के औपनिषदिक सिद्धान्त के अनुयायी हैं परन्तु ज्ञान को आचार मार्ग के अवलंबन से पुष्ट करते हैं। आचाररूप में परिवर्तित ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। देर तक जल में काया को स्वच्छ करके भी व्यक्ति नैतिक रूप से शुद्ध नहीं होता। एक शुद्ध व्यक्ति वह है जिसमें सत्य और सद्गुणों का वास होता है।

बुद्ध ने एक जीवन–दर्शन का प्रतिपादन किया। दैनंदिन जीवन में एक श्रेयस और लक्ष्यबद्ध शिक्षा के समावेश से उच्च चरित्र का निर्माण होता है। इससे पहले से चले आ रहे प्रतिबन्धों और निषेधों की जगह एक सकारात्मक और व्यावहारिक शिक्षा की स्थापना हुई, जिसके फलस्वरूप नैतिकता की एक उच्चतर अवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। सिंचाई करने वाले इच्छानुसार जल की दिशा बदलते हैं, तक्षक तीर को सीधा बनाते हैं, काष्ठकार काष्ठ को इच्छानुसार रूप देते हैं, ज्ञानीजन स्वयं को परिष्कृत करते हैं। यह आत्मपरिष्कार प्रक्रिया ही चरित्र निर्माण की प्रक्रिया है।

ज्ञान के उदय के लिए शरीर की शुद्धि नितान्त आवश्यक है इसीलिए शील और समाधि के द्वारा क्रमशः कामशुद्धि और चित्तशुद्धि पर विशेष जोर दिया है। बुद्धधर्म के तीन महनीय तत्व है– शील, समाधि और प्रज्ञा। पारमिताओं (सद्गुणों) में शील का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शील से तात्पर्य सात्विक कार्य एवं अहिंसा नियमों का पालन करना है। शील तथा समाधि का फल है, प्रज्ञा का उदय। भवचक्र के मूल में अविद्या विद्यमान है। जब तक प्रज्ञा का उदय नहीं होता, तब तक अव, का नाश नहीं हो सकता। प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है– श्रुतमयी–आप्त प्रमाणों से उत्पन्न निश्चय, चिन्तामयी–युक्ति से उत्पन्न निश्चय, भावनामयी निश्चय। आप्त प्रमाण समाधिजन्यः

बुद्ध ने दस बाधाओं का संकेत किया है– सत्कायदृष्टि, संशय अथवा विचिकित्सा, काम (शारीरिक वासनाएं),

द्रोहभाव (घृणा), भौतिक एवं अभौतिक सुखों की प्राप्ति के प्रति राग, अभिमान (दम्भ), औद्धत्य, वस्तुओं के यथार्थरूप का अज्ञान (अविद्या) । बुद्ध ने कहा कि अविद्या सबसे बड़ा अपराध है, क्योंकि यह मनुष्य के सारे दुःखों का कारण है, जिसके चलते हम महत्वहीन को महत्त्वपूर्ण समझते हैं, जहां दुःख की संभावना नहीं वहां भी दुःखी होते हैं, भ्रांति को यथार्थ मान लेते हैं, निरर्थक की खोज में जीवन व्यर्थ कर देते हैं और जो सचमुच मूल्यवान है उसे उपेक्षित करते हैं। जो प्रकाश इस अन्धकार को दूर कर सकता है और दुःखों से मुक्ति दिला सकता है वह गौतम के अनुसार चार आर्यसत्यों का ज्ञान है।

चरित्र निर्माण की प्रक्रिया

दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद् चतुर्थ आर्यसत्य है। गौतम ने सत्य मार्ग के आठ चरण (आर्य आष्टांगिक मार्ग) बतलाए हैं– सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। जिस मनुष्य ने इस अष्टांगिक मार्ग का व्यवहार किया है वह अविद्या, इच्छा, तृष्णा और सांसारिक जीवन में उत्पन्न होने वाले दुःख से मुक्ति को प्राप्त होता है। इस मुक्ति की प्राप्ति ही निर्वाण है इसीलिए यह समस्त मागों में श्रेष्ठ माना गया है। निर्वाण समस्त कर्मों के निरोध की स्थिति, समभाव की चरम सीमा है। आष्टांगिक मार्ग बौद्धधर्म की आचारमीमांसा का चरम साधन है। यह प्रज्ञा, शील और समाधि इसी साधनत्रय का पल्लवित रूप है। बुद्धधर्म में आचार की प्रधानता है। आचार उनका प्रधान सक्ष्य है। यह आचार दर्शन ही चरित्र निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को अपने में समेटे हैं। आष्टांगिक मार्ग में बौद्धधर्म प्रतिपदित नैतिक जीवन का सार निहित है।

मध्यम प्रतिपदा

आचारमार्ग के आठों अड़गों में सम्यक विशेषण दिया गया है। तथागत का कथन है कि अन्तों के मध्य में रहना ही सम्यक्ता है। किसी भी भी वस्तु में अत्यधिक तल्लीनता अथवा उससे अत्यधिक वैराग्य दोनों अनुचित है। अतः सत्य तो दोनों के बीच में ही रहता है। इस शोभन मध्य को अधिक महत्व देने के कारण ही बुद्ध का मार्ग मध्यम प्रतिपदा कहा जाता है। बुद्ध ने जिस जीवन पद्धति प्रतिपादन किया वह अत्यन्त विषयभोग और आत्मनियंत्रण की पराकाष्ठा दोनों से रहित है। चार आर्य सत्यों और आष्टांगिक मार्ग का उपदेश देते हुए गौतम ने एक और संन्यासियों द्वारा शरीर को कष्ट दिये जाने की तथा दूसरी ओर विलास के जीवन की निंदा की।

सम्यक दृष्टि

दृष्टि का अर्थ ज्ञान है, सत्कार्य के लिये ज्ञान की भित्ति आवश्यक होती है, जो कुछ हम करते हैं वह हमारे विचार का प्रतिविम्बित रूप है। मन में कुविचार पैदा होने के क्षण से मनुष्य अपराधी हो जाता है, चाहे उस विचार पर व्यवहार किया जाय या नहीं। समस्त जगत् का प्रथम तत्त्व विचार है। यदि व्यक्ति मन में कुविचार लेकर कुछ बोलता या करता है तो दुःख उसके पीछे–पीछे आता है। जिस तरह पहिया गाड़ी खींचने वाले पशु के खुरों के पीछे–पीछे आता है। यदि व्यक्ति सम्यक विचार के साथ कुछ बोलता या करता है तो प्रसन्नता उससे कभी न बिछड़ने वाली छाया की तरह उसके पीछे–पीछे चलती है। शत्रु–शत्रु से बुराई करता है और सम्यक् करने वाला घृणा करने वाले से बुराई करता है, मगर इनसे भी बुरा है किसी भटके हुए मन में उत्पन्न कुविचार। विचार की भित्ति पर आचार खड़ा होता है। अतः घृणा सद्विचार चरित्र निर्माण का प्रथम सोपान है।

सम्यक् संकल्प

बौद्धधर्म आशय की पवित्रता और जीवन में विनयशीलता पर विशेष बल देता है। प्रत्येक पुरुष को इन बातों का दृढ़ संकल्प निश्चय करना चाहिए कि वह विषय की कामना न करेगा, प्राणियों से द्रोह न करेगा और किसी जीव की हिंसा न करेगा। यह त्याग के लिए प्रबल इच्छा है, सबके साथ मिलकर प्रेमपूर्वक जीवन बिताने का संकल्प है। महायान के अनुसार ऐसे दृढ़संकल्प व्यक्ति को इस प्रकार कथन करने का सामर्थ्य होना चाहिएः 'मुझे प्राणिमात्र के भार को अपने ऊपर लेना है।'

सम्यक वचन

सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। असत्य, पिशुन–वचन, कटुवचन इन सबको छोड़ देना नितान्त आवश्यक है। वैर की शांति कटुवचनों से नहीं होती, प्रत्युत और अवैर से होती है। एक सार्थक पद ही श्रेष्ठ होता है, जिसे सुनकर शांति उत्पन्न होती है। जिस पद से इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती उसका प्रयोग नितान्त अयुक्त है।ष सम्यक संकल्पों को अपने कर्मों में अवश्य परिणत करना चाहिए। उनकी अभिव्यक्ति सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म एवं सम्यक जीवन में होनी

कर्म–सम्यक्

सम्यक् कर्म निःस्वार्थ कर्म का नाम है। मनुष्य की सद्गति या दुर्गति का कारण उसका कर्म ही है। पञ्चशील का अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सुरा–मैरेय भिक्षुओं के लिए सार्वजनीन कर्मों के अतिरिक्त अपराह्न भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण तथा अमूल्य शयया का त्याग भी कर्तव्य है। इन्हें दशशील कहते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म दो प्रकार के होते हैंः कुशल और अकुशल, कुशल कर्मों में प्रवृत्ति और अकुशल कर्मों से निवृत्ति उच्च चरित्र के लिए आवश्यक है।

सम्यक आजीव

सच्ची जीविका के द्वारा शरीर रक्षण करना चाहिए, जिससे दूसरे प्राणियों को किसी प्रकार का क्लेश न पहुंचे। हथियार, प्राणी, मांस, मद्य एवं विष का व्यापार झूठी जीविका है। यदि व्यक्ति पारस्परिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने जीविकार्जन में लगे तो समाज का वास्तविक मंगल होता है।

सम्यक् व्यायाम

इन्द्रियों पर संयम, बुरी भावनाओं को रोकने, अच्छी भावनाओं के उत्पादन का प्रयत्न से सम्यक् व्यायाम हैं। बिना प्रयत्न किये चंचल चित्त से शोभन भावनाएं दूर भागती जाती हैं और बुरी भावनाएं प्रवेश करती हैं। इन्द्रियों के दमन से नहीं अपितु उनके प्रशिक्षण से मन सुसंस्कृत होता है। एक यथार्थ इन्द्रिय–संस्कृति का तात्पर्य इंद्रियों के इस प्रकार के प्रशिक्षण से है, जिससे इंद्रियचेतना के सभी रूपों परस्पर भेद किया जा सके एवं उनका सही–सही मूल्यांकन भी किया जा सके।

सम्यक स्मति

इसका विस्तृत वर्णन श्महा सतिपठ्ठान सुत्त में किया गया है। स्मृतिप्रस्थान 4 हैं– है। कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना। काय, वेदना, चित्त आदि के वास्तव स्वरूप को जानना तथा उसकी स्मृति सदना रखना आवश्यक है।

सम्यक समाधि

चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं। सम्यक समाधि वहीं है जिससे मन के विक्षेपों को हटाया जाये। ध्यान की चार सीढ़ियां हैं– पहली सीढ़ी प्रसन्नता एवं आह्लाद है, जिनके साथ अन्तर्दृष्टि, चिन्तन, गूढ़ विचार, जिज्ञासा भी आते हैं एवं इन्द्रियभोग के विचार से ये सर्वथा उन्मुक्त हैं। दूसरी पीढ़ी उल्लास, प्रशान्त एवं गंभीर मानसिक शान्ति हो जाता है। तीसरी सीढ़ी वासनाओं एवं पक्षपातों का अभाव है, जहां आत्ममोह सर्वथा शान्त हो जाता है। चौथी सीढ़ी आत्मसंयम एवं पूर्ण शान्त मुद्रा की है जिसमें न चिन्ता है न आह्लाद क्योंकि जो आह्लाद एवं चिन्ता को उत्पन्न करते हैं उन्हें एक और छोड़ दिया जाता है। ध्यान मन को सब विद्यमान वस्तुओं के साथ समता में लाने का सतत प्रयास है। यह अहंकार के भाव को दूर करने के लिए एक दृढ़ निश्चयपूर्ण पुरुषार्थ है, जिससे सत्यमय जीवन में मनुष्य अपने को लीन कर सके। हमें अपने अन्दर मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा की भावनाओं की साधना करनी चाहिए। ये चार सर्वोत्तम मनोवृत्ति अथवा ब्रह्मविहार हैं। प्रेम एवं सहानुभूति आदि भावनाओं को समस्त मनुष्य जाति के प्रति ही नहीं अपितु चेतन प्राणिमात्र के प्रति विस्तृत करने के ये क्रमबद्ध प्रयास हैं।

संघ की चारित्रिक विशेषताएं

बौद्ध भिक्षुकों ने निर्वाण प्राप्ति के लिए शीलविशुद्धि तथा चित्तविशुद्धि का विशेष उल्लेख किया है। भिक्षुकों के चरित्र को शुद्ध करने के लिये नियमों एवं अनुशासन का पालन आवश्यक था। अतः भिक्षुकों के विशुद्ध चरित्र–निर्माण के लिए बुद्ध ने अनेक उपदेश दिये हैं– भय से मुक्ति का नियम, सम्पत्ति के निग्रह का नियम, श्रम की महत्ता का नियम, जाति–भेद और अन्य बाहरी भेदों से परे मानव–व्यक्तित्व की गरिमा का नियम, सत्य ज्ञान का नियम, आत्मज्ञान पर आधारित प्रेम का नियम। ये सभी नियम मानवता के महान् चरित्र को इन्द्रधनुष का रूप देते हैं। अभिधर्म में मद्यपान करने और दूसरों को कराने का निषेध किया गया है, क्योंकि मद्यपान की दिशा पतन, अपराध, पागलपन और अज्ञान को जन्म देती है।

संघ में प्रवेश के लिए निजी सम्पत्ति का पूर्ण निग्रह और नैतिक शुद्धता आवश्यक थी। सम्पति का निग्रह ब्राह्य व्यवहार में ही प्रदर्शित न किया जाये बल्कि वह चेतना का अंग भी बने। समस्त निजी वस्तुओं का त्याग सच्ची स्वतंत्रा की भावना जगाता है, स्वतंत्रता से आनन्द और आनन्द से संतोष का जन्म होता है और संतोष से चित्त की स्वतंत्रता और उल्लास का भाव उत्पन्न होता है। बुद्ध को यात्रा में एक वास्तविक शैक्षिक तत्व दिखाई देता था। यात्रा मनुष्य को उसकी दैनंदिनी परिस्थितियों से काटकर उसमें गतिशीलता, उद्यमशीलता और अनुकूलन के गुण का विकास करती है और ये गुण चेतना के प्रसार की प्रक्रिया के लिए अनिवार्य होते हैं।

सदाचार

आचरण के सम्बन्ध में स्थूलरूप से कल्याणकारी एवं कुत्सित या शुभ अथवा अशुभ दो भेद किये गये हैं। कल्याणकारी आचरण निःस्वार्थभाव के कारण होता है और वह प्रेम एवं करुणा के रूप में प्रकट होता है। जबकि दूसरे की अहंकार है और इसके परिणामस्वरूप दुर्भावनापरक कर्म होते हैं। मिलिन्द में जीवन के ये अंग बताए गए हैं– सदाचरण, निरन्तर उद्योग, ध्यान, जागरुकता, विवेक एवं दूरदर्शिता।

आत्मविकास

बौद्धधर्म में भगवत्कृपा अथवा छूट का कोई स्थान नहीं है। वहां केवल आत्मविकास को ही स्थान है। लौह आत्मसंयम बुद्ध की शिक्षाओं का आधार था और यह इसलिए आवश्यक था कि अनियमित भावनाओं और विचारों पर अंकुश लगे और अजेय संकल्प शक्ति का विकास हो। मनुष्य अपने पुरुषार्थ एवं आत्मनियंत्रण के द्वारा ही ऐसा सामर्थ्य एवं गुण प्राप्त कर सकता है, जिसके द्वारा वह सब वस्तुओं से स्वतंत्र होकर आत्मनिर्भर रह सकता है। यदि मनुष्य अपने ऊपर विजय प्राप्त कर ले तो उसके विरुद्ध कोई भी प्रतिपक्षी प्रबल नहीं हो सकता। ''अपने ऊपर विजय पाना ही मानव की अनन्त शान्ति का चरम साधन है।''

व्यक्तिगत प्रयास

बौद्धधर्म का नैतिक जीवन सामाजिक होने की अपेक्षा वैयक्तिक अधिक है। जब आनन्द ने बुद्ध से प्रश्न किया कि संघरूपी संस्था के आपके क्या आदेश है तब बुद्ध ने उत्तर दिया तुम अपने लिए अपने आप दीपक बनो, तुम स्वयं ही अपने शरणस्थान भी बनो, सत्य को ही दीपक के रूप में दृढ़ता के साथ पकड़े रहो। बुद्ध ने पहल के प्रत्येक संकेत, वैयक्तिकता के प्रत्येक प्रदर्शन को सराहा। प्रत्येक व्यक्ति व्यक्ति स्वयं का स्रष्टा और त्राता होता है और इस उच्च लक्ष्य को पाने के लिए व्यक्तिगत प्रयास अति आवश्यक हैं।

कार्य के प्रति समर्पण

अकर्मण्यता का जीवन घृणिता होता है और उर्जा का अभाव हेय होता है। सकारात्मक और सुंदर को साकार करने के उद्देश्य से समस्त नकारात्मक तत्वों से दूर रहने और अपनी समस्त उर्जा लगा देने का आदेश संघ को दिया गया है। व्यक्ति यदि कमल समान बनते हैं, जो जल में उत्पन्न होकर भी जल से प्रभावित नहीं होता, यदि वे ईष्या या घृणा को प्रश्रय दिए बिना जीवन संघर्ष करते हैं। यदि वे संसार में स्वार्थ का नहीं, सत्य का जीवन बिताते हैं तो निश्चय ही उनके मन में आनंद, शांति और प्रसन्नता का वास होगा।

निष्कर्ष

उपयुक्त संदर्भ में कह सकते हैं कि बुद्ध को प्रगाढ़ रूप से अनुभव हुआ कि दुःख का स्वार्थपरता के साथ गठबंधन है और इसलिए उन्होंने एक नैतिक एवं मानसिक अनुशासन का उपदेश दिया, जिससे इस आत्मप्रवंचना का मूल से उच्छेदन किया जा सके। बौद्धधर्म के नीतिशास्त्र पर बुद्धिवाद का दोषारोपण किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि इसमें ज्ञान पर बल दिया गया क्योंकि अज्ञान को ही दुःख और क्लेश का मूल कारण बताया है, किन्तु यहां ऐसे ज्ञान से अभिप्राय है, जिसके लिए नैतिकता एक आवश्यक प्रतिबंध है। बौद्धधर्म मानव के नैतिक व्यक्तित्व का विश्लेषण करता है। तथागत का धर्म यह मांग नहीं करता कि व्यक्ति गृहमुक्ति का मार्ग अपनाए या संसार का परित्याग करें जब तक कि वह स्वयं को इसके लिए समर्पित नहीं पाता, यह प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा करता है कि वह हृदय को शुद्ध रखे और सद्जीवन का निर्वाह करें। बुद्ध कहते हैं कि एकमात्र वस्तु जो संसार में परम महत्त्व रखती है वह सदिच्छा है, ऐसी इच्छा जिसका निर्णय स्वतंत्रतापूर्वक नैतिक के द्वारा हुआ हो। केवल मनुष्य ही सदाचरण के प्रति इच्छा को प्रेरित करने के योग्य है इसीलिये बुद्ध द्वारा हमें इच्छामात्र को नहीं अपितु केवल अनुचित इच्छाओं को ही सब प्रकार की कठिन मनुष्य साधना के द्वारा शान्त रखने का आदेश दिया गया है।[8] धम्मपद ने बुद्धशासन के रहस्य को तीन शब्दों में समझाया है– सब पापों का न करना, पुण्य का संचय, अपने चित्त की परिशुद्धि।[8] यही तत्त्व मनुष्य से उच्च चरित्र की कसौटियां हैं।

चरित्र व्यापक परिप्रेक्ष्य में जीवन से सम्बद्ध हमारे प्रत्येक आचार विचार तथा व्यवहार से सम्बन्ध रखता है। यह न केवल हमारे बाह्य आचरण में प्रतिबिम्बित होता है बल्कि हमारे आन्तरिक सुख–दुःख के लिए भी होता है। चरित्र शब्द का व्युत्पादन पाणिनीय व्याकरणानुसार 'चर गतिभक्षणयोः' से करण अर्थ में किया जाता है। गति में तीन अर्थ समाहित रहते हैंः ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति। इस प्रकार चरित्र शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है, जिसके द्वारा ज्ञान किया जाता है, गति की जाती है, प्राप्ति की जाती है वह व्यापार चरित्र पदवाच्य होता है। दूसरे शब्दों में जिस क्रिया के द्वारा ज्ञान, गति तथा प्राप्ति की जाती है वह सम्पूर्ण क्रियाकलाप चरित्र कहलाता है। विचार करने पर ज्ञान तथा प्राप्ति को भी गत्यात्मक होने से गति के अंदर ही समाहित किया जा सकता है। इस तरह जीवन के गतिस्वरूप होने से जिसके द्वारा जीवन जिया जाता है अथवा धारणा किया जाता है वह चरित्र कहलाता है। इस प्रकार चरित्र जीवन जीने का कारण अथवा सर्वोत्कृष्ट साधन है। इससे चरित्र की जीवन में व्यापकता सिद्ध होती है।

संदर्भ सूची

1. उपाध्याय, आचार्य बलदेव, (1989) *बौद्ध दर्शन–मीमांसा,* चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी।
2. सांकृत्यायन, राहुल, (1977) *बौद्ध दर्शन,* किताब महल, इलाहबाद।
3. उपाध्याय बलदेव, (1999) संस्कृत वाङ्गमय का वृहद् इतिहास, नवम् खण्ड–न्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।
4. राधाकृष्णन, (1973) *भारतीय दर्शन,* राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।
5. सिंह मदन मोहन, (1972) *बुद्धकालीन समाज और धर्म,* पटना बिहार हिन्दी ऐकडेमिक, पृष्ठ–11–15
6. सिंह परमानंद, (2016) *बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज,* मोतीलाल बरानसी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ–85–86
7. सुत्त निपाद, उरग वग्ग, 7।

––==00==––